अपोहवाद और व्याकरण परम्परा के शब्दार्थ सिद्धान्तों की समीक्षा

अम्बिकादत्त शर्मा

शान्तरक्षितः अपोहवादं प्रस्तुवन् प्रतिभासिद्धान्तं खण्डयति। परन्तु अपोहवादस्य प्रवर्तको दिङ्नागः अपोद्धार-प्रतिभासिद्धान्तौ तथैवाङ्गीचकार यथा भर्तृहरिः वाक्यपदीये प्रतिपादयामासेति प्रतीयते। अनयोः मतयो र्मध्ये भेदोऽस्ति उत नेति विचारयत्यस्मिन् प्रबन्धे सूक्ष्मतया मतान्युपस्थाप्य प्रबन्धा।

"परमार्थस्तु आर्याणां तूष्णीभावः"–यदि भाषा-दर्शन की दृष्टि से विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि बौद्ध नैयायिकों का का सम्पूर्ण दार्शनिक चिन्तन इस बात से सम्बन्धित है कि वह क्या है जिसे भाषा के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता और भाषा के माध्यम से जो कुछ व्यक्त होता है उसका स्वरूप क्या है? क्या भाषा किसी वस्तु के स्व-स्वरूप को व्यक्त करती है अथवा भाषा के द्वारा जो कुछ व्यक्त होता है, वह किसी वस्तु का वास्तविक स्वरूप न होकर कुछ और ही होता है? क्या मानवीय संज्ञान की कोइ ऐसी भी स्थिति है जहाँ ज्ञान तो हो, लेकिन भाषा अनुपलब्ध रहती हो? क्या भाषा में ही कोई अन्तर्निहित कमजोरी है कि ज्ञान की उस अवस्था में जहाँ वास्तविकता अपने स्व-स्वरूप में उपलब्ध तो होती है लेकिन भाषा उसे स्पर्श तक नहीं कर पाती? तब भाषा की प्रकृति को किस प्रकार समझा जाय? भाषा में व्यक्त वास्तविकता किस प्रकार अपने स्व-स्वरूप से च्युत हो जाती है?

उपर्युक्त समस्याओं पर बौद्ध नैयायिकों में एक तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि में ज्ञानमीमांसीय आधार पर गम्भीरता से विचार-विमर्श करते हुए जो स्थापनायें की हैं उसे "अपोहवाद" का नाम दिया है। अपोहवाद ही बौद्धों के भाषा-दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त है। यह भाषा और सत् के स्वरूप के साथ कितना न्याय करता है, यह कहना तो कठिन है, फिर भी इसमें एक मूलग्राही दृष्टि है जो

शब्द और उसके अर्थ के महत्त्वपूर्ण पक्ष को उद्घाटित करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो अपोहवाद की मौलिकता इस बात में निहित है कि भाषा की मूलगामी भूमिका विधानपरक नहीं बल्कि निषेधमूलक है। इसीलिए आचार्य दिङ्नाग ने शब्द और विकल्प में परस्पर जन्य-जनक भाव को स्वीकार किया है (विकल्प योनयः शब्दा, विकल्पाः शब्द योनयः)। बौद्ध चिन्तन परम्परा के इतिहास में इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रवर्त्तन आचार्य दिङ्नाग ने किया था। तदुपरान्त धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर गुप्त, शान्तरक्षित, कमलशील, ज्ञानश्री मित्र, रत्नकीर्ति इत्यादि के द्वारा इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है। वैदिक परम्परा के दार्शनिकों में कुमारिल भट्ट, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य इत्यादि के द्वारा अपोहवाद के भूरिशः खण्डन ने भी इस सिद्धांत के विकास और परिष्कार को भरपूर प्रभावित किया है।

I

यदि भारतीय भाषा दार्शनिक चिन्तन के इतिहास में दिङ्नाग से पूर्व अपोहवाद के गुण-सूत्रों को खोजने का प्रयास किया जाय तो हमें पतञ्जलि द्वारा उपस्थापित अतिसाधारण लेकिन अतिमहत्त्पूर्ण उस प्रश्न पर विचार करना होगा कि पद का अर्थ अर्थात् पदार्थ क्या है? ऐतिहासिक रूप से व्याकरण परम्परा में इस प्रश्न के दो प्रतिनिधि उत्तर दिये गये हैं जिन्हें क्रमशः वाजप्यापन और व्याडि से जोड़ा जाता है। वाजप्यापन का मत था कि शब्द और शब्दांश जाति (आकृति) के वाचक होते हैं और व्याडि का मानना था कि सभी शब्द द्रव्य अथवा व्यक्ति का अभिधान करते हैं क्योंकि क्रिया की साक्षात् अन्विति व्यक्ति से ही होती है (**आकृत्यभिधानद्वैकं विभक्तौ वाजप्यापनः** और **द्रव्याभिधानं व्याडिः**)। यहाँ अपोहवाद के सन्दर्भ में व्याडि का अभिमत ऐतिहासिक महत्त्व का है। पतञ्जलि, हेलाराज, कुमारिल और पार्थसारथि मिश्र इत्यादि ने जहाँ कहीं भी व्याडि के मत का उल्लेख किया है, सभी ने उन्हें भेदवादी कहा है। व्याडि के भेदभाव का तात्पर्य यह है कि भेद ही वाक्यार्थ है और वाक्यगत प्रत्येक पद अपने वाच्य द्रव्य का द्रव्यान्तर की निवृत्ति पूर्वक अभिधान करता है। उदाहरण के लिए गौ पद का वाच्य गोत्व जैसा कुछ नहीं बल्कि उससे अ-गौ वर्ग में आने वाले हाथी, घोड़ा इत्यादि से गौ की भिन्नता अभिहित होती है। उसी प्रकार जब शुक्ल गौ कहा जाता है तो इससे शुक्लत्व का गौ व्यक्ति से संसर्ग सूचित नहीं होता बल्कि शुक्ल पद गौ व्यक्ति के सन्दर्भ में शुक्लेतर वर्णों का निषेध ही विदित होता है। वैसे ही इस वाक्य में गौ पद से गवेतर सभी शुक्लवर्णा वस्तुओं की व्यावृत्ति ही द्योतित होती है। अतएव कुमारिल भट्ट ने व्याडि के अभिमत को स्पष्ट करते हुए उचित ही कहा है कि-**"भेदोनाम् पदार्थानां व्यवच्छेदः परस्परं-व्यक्ति पदार्थ पक्षे**

सर्वव्यक्तिनाम् गवादिपदेनौवोपात्तत्वात् विषयशब्दैः शुक्लादिभिः कृष्णादि-व्यवच्छेदमात्रं वक्तव्यम्-" तन्त्रवार्त्तिक। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संग्रहकार व्याडि और अपोहवादी बौद्धों की भाषायी व्यवहार के सन्दर्भ में मूलभूत दृष्टि बहुत कुछ मिलती-जुलती है। कम से कम दोनों निषेध परकता अथवा व्यावृत्ति मूलकता को भाषा की मूलवृत्ति के रूप में स्वीकार तो करते ही है। परन्तु भेदवादी व्याडि और अपोहवादी बौद्धों के बीच के अन्तर की भी अनदेखी नहीं की जा सकती। एक भाषा वैज्ञानिक प्रतिपादन और दूसरे भाषा दार्शनिक प्रतिपादन में जो कुछ भी अन्तर हो सकता है, वह सब कुछ इन दोनों के बीच देखा जा सकता है। वाजप्यापन और व्याडि के मध्य सामान्य और व्यक्ति का विवाद भाषायी व्यवहार को लेकर है। भाषायी व्यवहार में सामान्य और व्यक्ति दोनों की आवश्यकता होती है लेकिन अन्तर केवल इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इनमें से कौन प्राथमिक है और कौन गौण है। अतः व्याडि द्वारा सामान्य के विरोध को तात्त्विक स्तर का नहीं कहा जा सकता जबकि अपोहवादी सामान्य की तात्त्विकता का ही विरोध करते हैं। पुनः व्याडि की दृष्टि में भाषायी व्यवहार की व्यावृत्तिमूलकता भी भाषा को कल्पना अथवा विकल्प से नहीं जोड़ती है जबकि अपोहवादियों की दृष्टि में भाषा विकल्प के साथ ही प्रसूत होती है और अन्य व्यावृत्ति इस विकल्पीकरण की पूर्वशर्त है।

वस्तुतः अपोहवाद शाश्वतवादी तत्त्वचिन्तन और उसके भाषा-दर्शन के विरोध में क्षणिकवादी तत्त्वदृष्टि का भाषा-दर्शन है। वैदिक तत्त्वदृष्टि मूल रूप से शाश्वतवादी है लेकिन नैयायिक अपने तरीके से शाश्वतवाद का पोषण जाति या सामान्य तत्त्व के आधार पर करते हैं जिसका भाषा से सीधा-साधा सम्बन्ध होता है। अर्थात् भाषा तत्त्व को उसके वास्तविक स्वरूप में व्यक्त करती है अथवा किसी वस्तु का वही वास्तविक स्वरूप होता है जैसी वह भाषा में प्रदर्शित होती है। इसके विपरीत बौद्ध नैयायिकों का यह मानना है कि तत्त्व अपने अन्तिम विश्लेषण में क्षणिक ही सिद्ध होता है और भाषा उसे कदापि व्यक्त नहीं कर सकती। भाषा के द्वारा तत्त्व के संश्लेषित ओर विकल्पात्मक स्वरूप का ही विन्यास हो पाता है।

द्रष्टव्य है कि आस्तिक परम्परा के भाषा-दार्शनिक चिन्तन में भाषा और सत् (शब्दार्थ) के सम्बन्ध को नित्यसिद्ध[१] स्वीकार किया गया है किन्तु विचारणीय है कि क्या सचमुच भाषा और सत् के मध्य इस प्रकार के सम्बन्ध का कोई तात्त्विक आधार है या 'भाषा' मात्र मनुष्य की प्रतीक-रचना की योग्यता का एक ध्वन्यात्मक बौद्धिक अनुशासन है? भाषीय आधार पर हमारे व्यवहार

व्यवस्थित रूप में सम्पन्न होते हैं, क्योंकि भाषा और सत् में संवाद है। इस संवाद के तात्त्विक आधार के लिए हम कह सकते हैं कि भाषा के शब्दों अथवा वाक्यों में अर्थविशेष को व्यंजित करने की स्वाभाविक या ईश्वर प्रदत्त शक्ति होती है?[२] क्या इसीलिए बाह्य जगत् और आन्तरिक अनुभूतियाँ हमारी भाषा में चित्रित होती हैं और उस भाषा विशेष का व्याकरण इस भाषीय प्रतिबिम्बन की सम्प्रेषणीयता को नियमों में व्यवस्थित करता है।

यदि भाषा और सत् के प्रति उपर्युक्त दृष्टि के मूल में देखने का प्रयास किया जाय तो इसके पीछे नित्यतावादी तत्त्व दृष्टि, वेदों का सर्वोच्च प्रामाण्य और ईश्वर जैसी सत्ता की भूमिका ही परिलक्षित होती है। इन सबसे परे भाषा और सत् का संवाद मानव मन की एक सहज, सामान्य स्वीकृति है जिसे वह शताब्दियों के अपने अनुभव और व्यवहार के दृढ़ किया है। बौद्ध नैयायिकों ने भाषा और सत् पर विचार करते हुए, भाषा को बुद्धि के विकल्पों तक ही सीमित रखा है। उनके अनुसार शब्द का अर्थ से और अर्थ का शब्द से कोई तात्त्विक निबन्धन नहीं है।[३] हमारी बुद्धि में अर्थ जैसा प्रतिबिम्बन होता है, शब्द उसी का ग्रहण करते हैं। यह कोई आवश्यक नहीं कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित अर्थ किसी वस्तु का वास्तविक स्वरूप हो।८अतएव शब्द न तो अर्थनिष्ठ है और न ही अर्थजात् बल्कि अर्थसंकेत का ध्वन्यात्मक प्रतीक, वक्ता के अभिप्राय मात्र का निवेदन ही शब्द है।[४] बौद्धों के अनुसार इस निवेदन का स्वरूप ही अपोहात्मक है। यही शब्द और अर्थ के संवाद सम्बन्ध का सुनिश्चित करता है। अपोहात्मक निवेदन का तात्पर्य यह है कि शब्द अपने अर्थ को विरुद्ध के प्रतिषेध पूर्वक व्यक्त करता है।[५] विरुद्ध का प्रतिषेध "अपोह" एक द्विवार निषेध का नियम है जिसे बौद्ध नैयायिक ज्ञानमीमांसीय आधार प्रदान करते हैं। इसे मतद्व्यावृत्ति भी कहते हैं। उदाहरणार्थ– जब हम नील कहते हैं तो नील शब्द अ-नील की व्यावृत्ति पूर्वक नील का विधायक होता है। अतएव स्पष्ट ही है कि निर्वचन में अपोहन आवश्यक रूप से सम्मिलित रहता है।

II

यहाँ अनील की व्यावृत्तिपूर्वक का पूर्वानुबन्ध शब्दों के अपोहात्मक अर्थाभिधान को सरल नहीं रहने देता है। इस बात को लेकर अपोहवादी और इसका प्रतिवाद करने वाले पारम्परिक बौद्धेतर आचार्य एवं आधुनिक अध्येता भी एतद्विषयक कई बिन्दुओं पर अस्पष्ट प्रतीत होते हैं। उदाहरण के तौर पर कहा जा सकता है कि अपोह भाषा का दर्शन है अथवा दर्शन की भाषा मात्र है? पुनः यह अर्थ का दर्शन है या दृश्य अर्थ ही है? शब्द क्यों अपने अभिप्राय का निवेदन

अतद्व्यावृत्तिपूर्वक करता है? क्या स्वयं शब्दों की प्रकृति ही ऐसी है कि वे अपने अभिप्रेत्य को अपोहात्मक रूप से व्यक्त करते हैं या शब्दों का अभिप्रेत्य ही स्वरूपतः अपोहात्मक रूप से संरचित है और इसीलिए उसकी शाब्दिक अभिव्यंजना अपोहात्मक रूप से होती है? फिर, अपोहन की क्रिया द्विवार निषेधपूर्वक फलित होती है लेकिन इस रूप में अपोहात्मक द्वैधिकरण का तात्पर्य क्या है? यह समस्त विश्व का द्वैधिकरण है या तद् और अतद् का द्वैधिकरण दृष्टिसाकल्य की सीमित परिधि में प्रतिफलित होता है? द्विवार निषेध के द्वारा किस तरह "वही और केवल वही" वस्तु के अर्थाभिधान में तार्किक अनिवार्यता होती है? अपोह किस प्रकार अन्यापोह विशिष्ट विधि और कहीं अन्यापोह मात्र क्यों है? बौद्धों के अपोहवाद का सही चित्र प्रस्तुत करने के लिए उपर्युक्त विवादात्मक स्थलों का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। हम इस निबन्ध को इसी दिशा में आगे बढ़ाने का प्रयास करेंगे और यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि न केवल प्रमाणमीमांसा बल्कि भाषादर्शन भी किस प्रकार तत्त्वमीमांसा से अनुप्रेरित होती है।

अब यदि इस पक्ष को लिया जाय कि शब्द ही प्रकृतितः अपोहात्मक होते हैं, तो शब्द के द्वारा ही अर्थ के अपोहात्मक स्वरूप का निर्धारण स्वीकार करना होगा। ऐसी स्थिति में शब्द "अर्थ स्वरूप निर्धारक" होने से अर्थपूर्व हो जायेंगे। यह अनुभव का व्यभिचारी है। फिर यह कि शब्द-प्रयोग के अभाव में अर्थ का स्वरूप वैसा नहीं होता जैसा कि शब्द प्रयोग के पश्चात् उद्घाटित होता है। अर्थ की कतिपय ऐसी भी स्थितियाँ हैं, जहाँ शब्द प्रयोग की अव्यपदेश्यता होती है, तो क्या उनका कोई स्वरूप नहीं होता? उदाहरण के लिए वस्तुस्थिति की आत्यन्तिक विलक्षणता शब्दिक व्यपदेश्यता के योग्य नहीं होती। ज्ञानात्मक स्थितियों में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और स्वसंवेदन को अव्यपदेश्य कहा जा सकता है। भर्तृहरि किसी भी ज्ञान-स्थिति को इस रूप में स्वीकार नहीं करते जो शब्दानुविद्ध न हो।[६] वस्तुतः उनकी इस मान्यता की पूर्वमान्यता यह है कि जब ज्ञान को स्वरूपतः निराकार माना जाता है तो ज्ञान भाषा में ही आकार पाता है और इस तरह भाषा ज्ञानाकार की 'योनि' बन जाती है। बौद्ध ज्ञान को स्वरूपतः निराकार नहीं मानते बल्कि साकार रूपमें अवधारित करते हैं, अतएव भाषा उनकी दृष्टि में ज्ञानाकार की 'योनि' नहीं अपितु विकल्पाकार की 'योनि' बनती है। पुनः, भाषा में शब्दों का जैसा प्रयोग होता है, उनकी संरचना अपोहात्मक नहीं होती है। यदि शब्द की प्रकृति या स्वरूप ही अपोहात्मक होता है तो व्यवहार में शब्दों की बनावट भी "अनिवार्य", "अविसंवादी" जैसे शब्दों की तरह द्विविध निषेध या अतद्व्यावृत्ति के उपसर्ग, प्रत्यय पूर्वक होता है। यह भी नहीं कहा जा

सकता कि शब्दोच्चारण के अनन्तर वक्ता और श्रोता में तद्-अतद् का द्वन्द्व उत्पन्न होता है और तदनन्तर अतद् की व्यावृत्तिपूर्वक अर्थ बोध होता है। वक्ता की स्थिति में तो बोध को ही शब्द व्यंजित करते हैं और निर्द्वन्द्व रूप में श्रोता उसी से अवगत होता है। इसलिए शब्दोच्चारण के उपरान्त अपोह फलित नहीं होता, बल्कि अपोहित रूप में ही शब्द उच्चरित होते हैं।

अपोहपूर्वक शब्दोच्चारण का तात्पर्य यह है कि बोध ही अपोह-विशिष्ट होता है।[७] यह अपोह- विशिष्ट बोध निषेधवादियों का बोध नहीं, जिनके मतानुसार पहले अपोह को जानकर बाद में अन्यापोह का विधान होता है, क्योंकि व्यवहार कि समय विद्यमान में प्रतीत के विषय का ऐसा क्रम नहीं होता है। अतः इसमें प्रतीतिक्रम का व्यभिचार है। यह विधिवादियों का भी बोध नहीं, जिसके अनुसार पहले विधि को समझकर बाद में अर्थापत्ति से अपोह का समर्थन होता है। यह निरर्थक है, क्योंकि गौ-ज्ञान के पश्चात् अश्वादि के ज्ञान से गाय की उनसे भिन्नता तो समर्थित होती है, लेकिन इससे गाय के स्वरूप-ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। अतः गौ का बोध अपने बोध-काल में ही अपोहात्मक होता है। तभी तो गौ-बोध से अश्वादि में प्रवृत्ति न होकर अ-गोव्यावृत्त-गौ में ही सबकी प्रवृत्ति होती है।[८]

वस्तुतः बोध का स्वरूप अपोहात्मक मानने से अन्ततः यही स्वीकार करने में लाघव है कि बोध जिस अर्थ का ज्ञापक या प्रदर्शक होता है, वही स्वरूपतः अपोहात्मक है, क्योंकि बोध कोई स्वतन्त्र तथ्य ही नहीं, यह तो अर्थवशात् होता है। पुनः, बोध और अर्थ का संवाद सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से अनिवार्य और नियत है। केवल इन्द्रिय, करण और सन्निकर्ष दोष से उत्पन्न भ्रम की अस्वाभाविक स्थिति को छोड़कर बोध और अर्थ के संवाद सम्बन्ध में अव्याप्ति, व्यभिचार और अन्यथात्व नहीं देखा जाता है। अतएव अर्थ की प्रकृति या स्वरूप ही अपोहात्मक है और इसी की अपेक्षा से बोध और उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति में अपोह का उपचार होता है।

अब यदि अर्थ ही अपोहस्वरूप है तो इसकी दो व्याख्याएँ हो सकती हैं। प्रथमतः यह कि बाह्य घट-पटादि अर्थ जिस प्रकार सामान्य अनुभव में प्रस्तुत होते हैं, वे वस्तुगत्या यथार्थ हैं, लेकिन उनका ज्ञान अपोहात्मक रूप से होता है। द्वितीयतः यह कि अपोहात्मक ज्ञान से पृथक् और परे उनका कोई स्वतत्त्व ही नहीं है। इसलिए अर्थ अपोहमात्र हैं। न्यायवादी बौद्धों की वैचारिकी में बाह्य घट-पटादि अर्थ इसी आशय में अपोहमात्र हैं। बाह्यार्थ की ऐसी अपोहात्मकता अनुभव और व्यवहार के उत्तल धरातल पर अधिगत नहीं होती। यह न तो बैखरी

वाणी का विन्यास न ही अनुभवपूर्व अतीद्रिय,[९] बल्कि बुद्धि का प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्प है, जिसका भाषा के द्वारा अनिवार्य रूप से अनुगमन किया जाता है। धर्मकीर्ति के अनुसार इसकी व्याख्या तो परमार्थ के अन्वेषक व्याख्याकार ही करते हैं। सामान्यजन तो इसी को यथार्थ समझकर व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं।[१०]

धर्मकीर्ति का उपर्युक्त कथन विशेष महत्त्व का है और इससे इंगित होता है कि बाह्यार्थो की अपोहात्मकता आनुभाविक नहीं है, बल्कि सामान्य अनुभव में जो कुछ गृहीत होता है, वह अपोहित होकर ही सामान्य अनुभव का ज्ञेय-विषय या हमारी भाषा का वाच्यार्थ होता है। अतः बाह्यार्थों के ऐसे अपोहात्मक स्वरूप को उद्घाटित करने के लिए सामान्य अनुभव की बनावट को समझना आवश्यक हो जाता है। सामान्य अनुभव से धरातल पर व्यवहर्ता तो किसी वस्तु को उसी रूप में यथार्थ समझता है जैसी कि वह प्रतीत होती है, क्योंकि व्यवहर्त्ता के लिए यह विवक्षा आवश्यक नहीं कि कोई वस्तु ऐसी ही क्यों प्रतीत होती है? परन्तु परमार्थ की विवक्षा रखने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह सामान्य अनुभव के नेपथ्य में आत्म-चेतन विमर्शपूर्वक यह देखे कि कोई वस्तु ऐसी ही क्यों प्रतीत होती है, अन्य प्रकारक क्यों नहीं प्रतीत होती? धर्मकीर्ति के उपर्युक्त कथन में परमार्थ के अन्वेषक "व्याख्याकार" पद का यही आशय अभिप्रेत है। आचार्य दिङ्नाग-धर्मकीर्ति बुद्ध के विभज्यवादी पद्धति का अनुसरण करते हुए अनुभव का विश्लेषण कर संवृत्ति की अलीक अपोहात्मक विकल्परूपता का रहस्योद्घाटन और परमार्थ की विधिरूपता लेकिन बौद्धिक अनभिलाप्यता की तर्केण प्रतिष्ठा करते हैं। धर्मकीर्ति के अनुसार सामान्य अनुभव में हमें दो अत्यन्त भिन्न तत्त्व संश्लिष्ट रूप में प्राप्त होते हैं। इन्हें शक्त-अशक्त, सदृश-असदृश, शब्द का विषय-अविषय, बुद्धि ग्राह्य-अग्राह्य के द्वैविध्य में विभाजित किया जा सकता है। ये परस्पर विरोधी धर्म हैं, जो एक-दूसरे को व्यावृत्त करते हैं। इसलिए इनकी समाश्रयता को एकत्व मानना युक्तिसंगत नहीं। यह द्वैविध्य अनुभव में सर्वत्र व्याप्त हैं।[११] जहाँ आवश्यक रूप से परस्पर निवृत्तिमूलक द्वैविध्य प्राप्त हो तो लौकिक न्यायानुसार एक को वास्तविक और दूसरे को आरोपित समझना चाहिए। यही आचार्य दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के प्रमेय द्वैविध्य और तदनुरूप प्रमाण द्वैविध्य के उपागम का आनुभविक आधार हैं।[१२] प्रमेय द्वैविध्य का तात्पर्य प्रमेय विप्लव को स्वलक्षण और सामान्यलक्षण में व्यवस्थित करना है और प्रमाण द्वैविध्य का तात्पर्य प्रमाण विप्लव को प्रत्यक्ष और अनुमान में नियोजित करना है। स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है।[१३] यह किसी वस्तु का अनुभव निरपेक्ष, अकृत्रिम, अकल्पित, अनारोपित स्वस्वरूप है, जो पूर्वापर भाग से सर्वथा रहित, सर्वतोव्यावृत्त, अयोगव्यवच्छेद-विधि-रूप, अर्थक्रिया का

क्षणमात्र, देशकाल और सत्ता की क्षणावच्छिन्न एकनिष्ठता है, जो उत्पत्यन्तर निरन्वय विनाशी होता है। सामान्यलक्षण अनुमान काल और सत्ता की क्षणावच्छिन्न एकनिष्ठता है, जो उत्पत्यन्तर निरन्वय विनाशी होता है। सामान्यलक्षण अनुमान का विषय है।[१४] यह किसी वस्तु का अनुभव-सापेक्ष, विकल्पारोपित पर-स्वरूप है, जो विजातीय व्यावृत्तिवशात् सभी आनुभाविक व्यतियों में समान रूप से प्राप्त होता है। यह अभिलाप्य, अलीक, अपोहात्मक, अर्थक्रिया में असमर्थ लेकिन अर्थक्रिया का प्रदर्शक, नामजात्यादि विकल्प-योजना से सम्प्रयुक्त होता है।

III

ध्यातव्य है कि स्वलक्षण और सामान्यलक्षण समान रूप से सत् और दो समानान्तर सत्ताएँ नहीं हैं। एक ही स्वलक्षण का स्वरूप और पररूप में अध्यवसित होने के कारण, वही और एक ही परमार्थ सत् दो स्तरों पर दो प्रमेयों में विभक्त हो जाता है।[१५] स्वलक्षण ही विकसित होकर सामान्य-लक्षण के रूप में अध्यवसित होता है। सामान्य अनुभव की परिसीमा में वस्तुनिष्ठ रूप से प्रतीत होने वाली सभी नील-पीत वस्तुएँ बौद्ध नैयायिकों की दृष्टि में अध्यवसित स्वलक्षण ही हैं। अध्यवसाय सामान्य अनुभव का नेपथ्य है, जिसमें बुद्धि अपनी विकल्पात्मक शक्ति से सामान्य अनुभव की संरचना करती है। अध्यवसाय की सम्पूर्ण प्रक्रिया ही अपोहात्मक है, इसलिए सामान्य अनुभव में गृहीत नील-पीत वस्तुओं को अपोह कहा जाता है।[१६] इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है– निर्विकल्पक प्रत्यक्ष (कल्पनाऽपोढ़) द्वारा जब नील-क्षण का ग्रहण होता है तो वह उसके वर्तमानाभाव को व्यावृत्त करते हुए व्यावृत्त वर्तमानाभाव का अविनाभावी अतीत और अनागत भाव को भी व्यावृत्त कर देता है। इस प्रकार कल्पनाऽपोढ़ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा शुद्ध वर्तमानावच्छिन्न भाव का ग्रहण बौद्ध नैयायिक स्वीकार करते हैं। इस स्थिति में प्रत्यक्ष-ग्राह्य-विषय (स्वलक्षण) को आन्तरिक एवं बाह्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। यहाँ अभिलाप्यता के लिए कोई अवकाश ही नहीं। प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया अपनी शुद्धता में यहीं विराम को प्राप्त होती है। वस्तुतः बौद्धों का कल्पनाऽपोढ़ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष एक ऐसी स्थिति है जहाँ परमार्थसत् स्वलक्षण ग्राहक चेतना में स्वाकार अर्पित करता है और तत्क्षण बुद्धि की मनोजल्पात्मक क्रिया का आरम्भ भी नहीं हुआ रहता है। तदनन्तर बुद्धि का उत्प्रेक्षणात्मक विकल्प व्यापार आरम्भ होता है।[१७] बुद्धि का प्रथम कार्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ग्राह्य और ग्राहक दो ध्रुवों में विभक्त कर देना है। यह विभक्तिकरण नील-विज्ञान और उसका विषयात्मक सन्दर्भ नील-वस्तु के रूप में होता है, जिनके मध्य बुद्धि सारूप्य की स्थापना करती है। सारूप्य दो विलक्षण क्षणों का सालक्षण्य है। यह तत्त्वतः नहीं होता बल्कि बुद्धि का कार्य

होने से विकल्पात्मक ही है। बुद्धि उसी अनुपात में सारूप्य की स्थापना करती है, जिस अनुपात में वह असारूप्य की व्यावृत्ति करती है।[१८] बुद्धि इसी सारूप्य वशात् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत क्षणिक प्रतिभास को "शुद्धअन्य" के रूप में बाह्यरूपेण अध्यवसित करती है। "शुद्ध-अन्य" के रूप में स्वलक्षण का अध्यवसाय यद्यपि बौद्धिक एवं विकल्पगर्भित होता है तथापि यह बुद्धि की ही प्रथम निर्विकल्पक स्थिति होने से ग्राह्य-ग्राहक असंवित् निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का सजातीय, अविसंवादी होता है। श्चेरबात्सकी[१९] के अनुसार यह स्वलक्षणग्राही प्रत्यक्ष और विकल्पात्मक अध्यवसाय की मध्यवर्ती स्थिति है, जो दोनों को जोड़ने का कार्य करती है। धर्मकीर्ति के अनुसार यही "शुद्ध-अन्य" के रूप में बौद्धिक प्रज्ञा का निर्विकल्पक विज्ञान सामान्यजन को लभ्य होता है।[२०] "शुद्ध-अन्य" के रूप में ज्ञान का स्वरूप साकल्यात्मक परिप्रेक्ष्य लिये रहता है। साकल्यात्मक ज्ञान का तात्पर्य यह है कि बुद्धि "शुद्ध-अन्य" के ज्ञान को उसके पूरे परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करती है।[२१] तत्पश्चात् बुद्धि अपने दृष्टिसाकल्य में उस "शुद्ध-अन्य-विशेष" के अतिरिक्त अन्यों का अशेष रूपेण निषेध करते हुए "शुद्ध-अन्य-विशेष" को पंचविध कल्पनाओं में तत्तद विरूद्ध की व्यावृत्तिपूर्वक विधेयीकृत करती है। यथा–यह चित्रांगदा नाम की शुक्लवर्णा, दूध देने वाली, गोत्व जाति से सम्पन्न गाय द्रव्य है। इसी अतद्व्यावृत्तिपूर्वक "यह गाय है" के अध्यवसाय के कारण सभी गायों में एक समानता की प्रतीति होती है,[२२] जो "यह गाय है" के सामान्य अनुभव के नेपथ्य उपचेतन मन में अपोहात्मक रूप से निर्धारित होता है। आनुभाविक रूप में सभी गायें एक-दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी उनमें एक अतद्व्यावृत्ति रूप व्यापक समानता के कारण "गोत्व सामान्य" या जाति की संकल्पना बुद्धि में आकारित होती है, जो वैसे सभी व्यक्तियों को व्याप्त करता है, जिनमें आश्रय, आलम्बन, आकार आदि की दृष्टि से सादृश्य और एकार्थक्रियाकारित्व की प्रतीति होती है।[२३] यहाँ प्रश्न उठता है कि एक ओर तो बौद्ध नैयायिक दो या दो से अधिक व्यक्तियों में समानता का हेतु "समान अतद्व्यावृत्ति" को बताते हैं और दूसरी ओर "समान अतद्व्यावृत्ति" का हेतु दो या दो से अधिक व्यक्तियों में "समानअर्थक्रिया-कारित्व" बताया जाता है तो उनमें समानता का हेतु अतद्व्यावृत्ति मात्र नहीं रह जाता बल्कि अर्थक्रियाकारित्वगत समानता का वस्तुगत हेतु भी प्रकारान्तर से प्रवेश प्राप्त करता है। धर्मकीर्ति इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि कुछ वस्तुओं का स्वभाव ही ऐसा मानने में कोई हानि नहीं है, क्योंकि ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की स्थिति में अर्थक्रिया का स्वरूप ऐन्द्रिक उद्दीपन मात्र होता है, जहाँ किसी प्रकार के व्यवहारयोग्य भेद-ग्रहण की प्रसक्ति भी सम्भव नहीं। यदि कहा जाय कि तब

उस अवस्था में विलक्षण क्षणों के द्वित्व का ग्रहण क्यों कर सम्भव होगा? तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि द्वित्व का ग्रहण भी अपेक्षा बुद्धिपूर्वक ही होता है और ऐसा होने से यह भी विकल्पात्मक ही है। यहाँ तक कि अध्यवसायपूर्वक ही अर्थक्रिया को जल की शीतलता और अग्नि की उष्णता से विशेषीकृत किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि समान अर्थक्रियाकारित्व को भी अन्ततः अध्यवसित ही समझना चाहिए। क्योंकि दो या दो से अधिक स्वलक्षणों में एकार्थक्रियाकारित्व होता है या नहीं, यह बौद्धिक ज्ञान का विषय ही नहीं, बल्कि स्वलक्षणों के पारस्परिक भेद-ग्रहण में असमर्थ बुद्धि भेदाग्रह कारण "एकप्रत्ययवमर्श"[२४] पूर्वक कुछ अध्यवसित स्वलक्षणों में एकार्थक्रियाकारित्व का आरोप करती है। इसी कारण उसमें एक ही प्रकार की अतद्व्यावृत्ति का उपचार होने से समानता की प्रतीति होती है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि बौद्धेतर दार्शनिक इस अतद्व्यावृत्ति रूप से आकारित होने वाले समानता के सम्प्रत्यय को सामान्य अथवा जाति नामक एक ऐसे पदार्थ में रूपान्तरित कर देते हैं जो नित्य और भाव रूप से अनेक व्यक्तियों में एक ही साथ अपनी सम्पूर्णता में अनुगत रहते हुए उन सभी व्यक्तियों से पृथक् एवं परे स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। मानव बुद्धि की अपोहात्मक प्रकृति को समझे बिना सत्ता को जातिविशिष्ट व्यक्ति और व्यक्तिविशिष्ट जाति की "टोपोलॉजी" में स्थापित करना विचारासह्य है। ऐसे सामान्य का तात्पर्य तो एक ऐसी सत्ता से है जो एक साथ अनेक व्यक्तियों में रहते हुए उसी समय व्यक्ति विशेष में उपस्थित और अनुपस्थित दोनों एक साथ होता है क्योंकि एक व्यक्ति में विद्यमान सामान्य अन्यत्र उत्पन्न वस्तु में बिना पूर्व स्थान से हटे अचानक प्रकट हो जाता है। जहाँ वस्तु है, उस स्थान से सम्बद्ध हुए बिना वहाँ की वस्तु को व्याप्त करता है। न वहाँ जाता है, न वहाँ पहले से था और अनायास प्रकट हो जाता है यद्यपि न उसके अंश हैं, न वह पूर्व आधार को छोड़ता है। इसलिए आचार्य दिङ्नाग के अनुसार एकत्व, नित्यत्व और अनेकसमवेतत्व रूप सामान्य नामक किसी भाव पदार्थ को मानने से ऐसी कठिनाइयों की शृंखला जुड़ जाती है।[२५] वास्तव में ऐसा सामान्य काल्पनिक ही हो सकता है। बौद्धों का अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य भी ऐसे सभी गुण-लक्षणों से युक्त बताया जा सकता है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसकी कोई वस्तुनिष्ठ सत्ता है।[२६] अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य में एकत्व होता है, क्योंकि यह प्रत्येक वैसे व्यक्तियों में अनुगत है जिनमें एकार्थक्रियाकारिता होती है। अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य नित्य होता है क्योंकि इसका निषेधात्मक आधार तार्किक रूप से कभी नष्ट नहीं होता। अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य प्रत्येक परिवर्तित होने वाले व्यक्तियों में वहीं बना रहता है।

अतद्व्यावृत्ति रूप सामान्य प्रत्येक व्यक्तियों में अपनी सम्पूर्णता में समवेत होता है। अतएव बौद्धेतर दार्शनिकों के सामान्य विषयक अवधारणा की अपेक्षा बौद्धों का अतद्व्यावृत्ति रूप से कल्पित सामान्य की संकल्पना में अनेक अनुकूलताएँ एवं तार्किक संगति है जबकि इस रूप में उसकी कोई भावरूप सत्ता नहीं है। इसलिए तथाकथित सामान्य वस्तुतः वर्ग-विशेष के व्यक्तियों में अनुगत एकत्व, नित्यत्व और अनेक समवेतत्व से युक्त भाव पदार्थ नहीं अपितु यह दो या दो से अधिक अध्यवसित स्वलक्षणों में समान अतद्व्यावृत्ति रूप से कल्पित अलीक बुद्धयाकार है।[२७]

इस प्रकार स्पष्ट है कि अध्यवसाय की सम्पूर्ण प्रक्रिया अपोहात्मक है, जिसे बुद्धि अपनी अध्यक्षता में द्विविध स्तरों पर सम्पादित करती है। प्रथम स्तर पर बुद्धि स्वलक्षण द्वारा ग्राहक चेतना में अर्पित स्वाकार को अन्यव्यावृत्तिपूर्वक "यह है" के रूप में बाह्यरूपेण अध्यवसित करती है। "यह है" का अध्यवसाय आनुभाविक रूप में भावात्मक होता है, लेकिन इसकी अपोहात्मकता सामान्य अनुभव के नेपथ्य (उपचेतन मन) में सम्पादित होती है। दूसरे स्तर पर बुद्धि सामान्यीकरण की पद्धति से समान आश्रय, आलम्बन, आकार और अर्थक्रियाकारित्व वाले व्यक्तियों में अन्यव्यावृत्ति की समानता के कारण सामान्य या जाति की संकल्पना को आत्मसात् करती है। वस्तुतः अध्यवसाय एक प्रकार से बुद्धि की कार्यशाला है, जिसमें बुद्धि अपनी विकल्पात्मक शक्ति से आनुभाविक जगत् की विविधता का निर्माण करती है और स्वयं उसे ही अपोहात्मक रूप में स्थिर भी करती है। वास्तव में अपोहन अथवा व्यावर्त्तन बुद्धि के व्यापार का एक आवश्यक अंग है जिसे बुद्धि अपने व्यापार के सभी स्तरों पर न्यूनाधिक रूप से सम्पादित करती है।[२८] अतः बाह्यार्थ अपने आनुभाविक स्वरूप में अपोह मात्र ही है। अपोह विषयक न्यायवादी बौद्ध संकल्पना का यही वास्तविक मन्तव्य है।

IV

अब हम अपोह विषयक बौद्ध संकल्पना के संदर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण स्थलों की चर्चा करेंगे, जिनका स्पष्टीकरण अपोहवाद के हृदयंगम के लिए आवश्यक है। बौद्धेतर दार्शनिकों ने "अपोह" की आलोचना विशेषकर इन्हीं स्थलों को स्पर्श करते हुए की है।

सर्वप्रथम यह कि अपोह एक प्रकार का द्वैधिकरण है। बुद्धि की ऐसी स्वाभाविक प्रकृति है कि वह अतद् की व्यावृत्तिपूर्वक तद् का निश्चय करती है, लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या अपोहात्मक निश्चय में बुद्धि सम्पूर्ण विश्व को अतद् और तद् में विभाजित करती है। यदि अपोहात्मक द्वैधिकरण का तात्पर्य

ऐसा ही स्वीकार किया जाय तो अपोहवादी बौद्ध संकल्पना अनन्त व्यभिचार और असम्भव दोष से ग्रसित हो जायेगा, क्योंकि किसी वस्तु के निषेध के लिए उसका किसी न किसी रूप में ज्ञान आवश्यक है, लेकिन अतद् की व्यावृत्ति के लिए तद् के अलावा अतद् वर्ग में आने वाली संसार की यावत् शेष वस्तुओं का ज्ञान असम्भव है। इसलिए उद्योतकर इत्यादि न्यायवैशेषिक दार्शनिकों ने अपोह की आलोचना करने में इस कठिनाई कीं बखूबी उजागर करते हुए दिङ्नाग (न जाति शब्दो भेदानां वाचकः आनन्त्याद व्यभिचाराच्च) का उपहास किया है। यद्यपि उपरी सतह पर अपोह की संकल्पना में यह कठिनाई उचित प्रतीत होती है तथापि अपोह की संकल्पना इससे मुक्त है क्योंकि अपोहात्मक द्वै०िकरण का तात्पर्य पूरे विश्व को तद्-अतद् में विभाजित करना नहीं है वरन् यह द्वैधिकरण दृष्टि-साकल्य (गेस्टाल्ट) में प्रतिफलित होता है। हम अपने दृष्टि-साकल्य को तद् और अतद् में द्वैधिकृत करते हैं। जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो हम उस वस्तु को तद्-देशकालावच्छिन्न उसके पूरे परिपार्श्व में जानते हैं। दृष्टि साकल्य में किसी वस्तु विशेष का ज्ञान असन्दिग्ध रूप से होता है, लेकिन उस वस्तु के अलावा दृष्टि-साकल्य में आने वाली शेष वस्तुओं का ज्ञान एक शीर्षक के अन्तर्गत समवेत रूप में होता है। अपोह-पद्धति के अनुसार दृष्टि-साकल्य में एक शीर्षक के अन्तर्गत होने वाले समवेत ज्ञान (अतद्) की व्यावृत्तिपूर्वक ही दृष्टि-साकल्य में किसी वस्तुविशेष (तद्) का ज्ञान असन्दिग्ध रूप में अध्यवसित होता है। यहाँ अवधेय है कि इस प्रकार का व्यावृत्तिमूलक निश्चय व्यक्ति का होता है, 'सामान्य' का नहीं।

अतः अपोहात्मक द्वैधिकरण का तात्पर्य पूरे विश्व को तद् और अतद् में विभाजित करना स्वीकार किया जाय तो अपोह मात्र आकारिक नियम बनकर रह जायेगा, क्योंकि अपोह को आकारिक नियम मानकर ही हम यह कह सकते हैं कि अतद् के निषेध के लिए अतद् में आने वाली वस्तुओं का ज्ञान आवश्यक नहीं है। लेकिन अपोहात्मक पद्धति में पूरे विश्व के द्वैधिकरण के स्थान पर दृष्टि-साकल्य के द्वैधिकरण को प्रस्थापित किया जाय तो अपोह को एक ज्ञानमीमांसीय आधार प्राप्त होता है। यदि पूरे विश्व के परिप्रेक्ष्य में किसी ज्ञानविशेष का घटित होना स्वीकार करने के बदले सीमित दृष्टिसाकल्य में ज्ञान का घटित होना स्वीकार किया जाय तो अतद्व्यावृत्त्यात्मक निर्धारण को अनन्त व्यभिचार और असम्भव दोष से ग्रसित नहीं कहा जा सकता। अतः अनन्त व्यभिचार और असम्भव दोष से सम्बन्धित अपोह विषयक आलोचनाएँ अन्यथा और निराधार हैं।

द्वितीयतः यह कि अपोह एक द्विवार निषेध का नियम है। बौद्ध इसे अन्यापोह, अन्यव्यावृत्ति और अतद्व्यावृत्ति कहते हैं। बौद्धेतर दार्शनिकों ने इस "तद्भिन्नभिन्नत्व" कहा है। यहाँ अपोह की अवधारणा में 'अ' और 'व्यावृत्ति' का निषेधात्मक उपसर्ग अपोह की संकल्पना को अस्पष्ट कर देता है, क्योंकि बौद्ध और बौद्धेतर दार्शनिकों की निषेध विषयक अवधारणाएँ भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए वे निषेध विषयक स्व-स्वीकृत अवधारणा से अपोह की संकल्पना को समझते हैं। यथा—न्यायवैशेषिक दार्शनिकों के लिए निषेध 'अन्योन्याभाव' है, जबकि दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के लिए निषेध का अर्थ 'पूर्ण व्यावर्त्तन' है। यदि निषेध को 'अन्योन्याभाव' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाय तो द्विवार निषेध बराबर विधि तो हो सकता है, लेकिन द्विवार निषेध के द्वारा 'वही और केवल वही' के रूप में मूल वस्तु तक पहुँचने की तार्किक अनिवार्यता प्रतिफलित नहीं हो सकती। यथा—जो कुछ गाय नहीं है, वह गाय और केवल गाय ही नहीं हो सकता। वह आदमी, हाथी, घोड़ा, बन्दर भी हो सकता है। क्योंकि अन्योन्याभाव के आशय में 'अ-गाय' आदमी या हाथी या घोड़े की एक खुली संहति को सूचित करता है। सम्भवतः जो बौद्ध नहीं है, यथा—प्रशस्तपाद, उद्योतकर, हाथी या घोड़े की एक खुली संहति को सूचित करता है। सम्भवतः जो बौद्ध नहीं हैं, यथा—प्रशस्तपाद, उद्योतकर, उदयन इत्यादि ने अपोह विषयक बौद्ध संकल्पना को इसी अर्थ में समझा है और उसकी आलोचना की है। दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के लिए निषेध का सम्प्रत्यय केवल आंशिक भेद का वाचक नहीं, वरन् पूर्ण व्यावर्त्तन है। पूर्ण व्यावर्त्तन के आशय में द्विवार निषेध के द्वारा अ-गाय की व्यावृत्ति करते हुए 'वही और केवल वही' गाय के प्राप्त होने में तार्किक अनिवार्यता है। उदाहरण के लिए मान लिया जाय देश-काल विशेष में हमारा दृष्टि साकल्य क+ख+ग+घ.....की एक संहति है। इसे हम द्विवार निषेध के द्वैधिकरण में 'क' और 'अ-क' में विभाजित कर सकते हैं। इस द्वैधिकरण में 'अ-क'=(ख+ग+घ) एक बन्द (क्लोज्ड) की बन्द संहति है, क्योंकि दृष्टि साकल्य में इनका ज्ञान एक शीर्षक के अन्तर्गत समवेत रूपेण होता है। अतः (ख+ग+घ) की बन्द संहति का पूर्ण व्यावर्त्तन 'क' और केवल 'क' को ही निश्चित करता है। बौद्ध नैयायिकों की वैचारिक योजना में 'क' और केवल 'क' अध्यवसित स्वलक्षण का द्योतक है। अतएव अपोह विषयक बौद्ध संकल्पना अन्योन्याभाव के आशय में द्विवार-निषेध नहीं, बल्कि पूर्ण व्यावर्त्तन के आशय में द्विवार-निषेध है। इस प्रकार द्विवार निषेध से सम्बन्धित अपोह विषयक आलोचनाएँ भी निरर्थक हैं।

तृतीयतः यह कि अपोह का तात्पर्य अन्यापोह विशिष्ट विधि है या अन्यापोह मात्र है। यह प्रश्न अपोह विमर्शकों के लिए विवाद का विषय रहा है।

यद्यपि दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के मत में अपोह का स्वरूप अन्यापोह मात्र है,[२९] क्योंकि इन्होंने अपोह का विशेष प्रयोग सामान्य विषयक बौद्धेतर संकल्पना का खण्डन तथा सामान्य को अपोह मात्र बताने के लिए किया है। वाचस्पति मिश्र[३०] भी बौद्धों के अपोह को इसी अर्थ में ग्रहण करते हैं, तथापि शान्तरक्षित, कमलशील और रत्नकीर्ति ने अपोह का स्वरूप अन्यापोह विशिष्ट विधि निर्देशित किया है। श्चेरबात्सकी और धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री[३१] अपोह सिद्धि का उद्धरण देते हुए इसी का अनुकरण करते हैं। उपर्युक्त दोनों प्रकार की धारणाओं को समन्वित करते हुए कहा जा सकता है कि दिङ्नाग-धर्मकीर्ति की अवधारणात्मक योजना में अपोह अन्यापोह विशिष्ट विधि और अन्यापोह मात्र दोनों हैं। अपोह जब अध्यवसित स्वलक्षण के लिए प्रयुक्त होता है तो अपोह का तात्पर्य अन्यापोह विशिष्ट विधि है, क्योंकि अतद् व्यावृत्तिपूर्वक तद् अध्यवसित स्वलक्षण का विधायक होता है जो परमार्थत: विधि रूप तो नहीं लेकिन संवृत्ति की अनुपम सीमा में उसी को यथार्थ मानकर विधि रूप से व्यवहृत किया जाता है। रत्नकीर्ति ने इसी आशय में अपोह को अन्यापोह विशिष्ट विधि स्वीकार किया है।[३२] दूसरे स्तर पर जब अपोह सामान्य या जाति के लिए प्रयुक्त होता है तो अपोह का तात्पर्य अन्यापोह मात्र अभिप्रेत है, क्योंकि इसमें यत्-किंचित् सांवृत्तिक विधिरूपता का भी अभाव होता है। यह तो कुछ अध्यवसित स्वलक्षणों में समान अतद्व्यावृत्तिवशात् बुद्धि में आकारित 'मेटा कॉन्सेप्ट' है। अन्यापोह विशिष्ट विधि शान्तरक्षित का अर्थात्मक अपोह है, जबकि अन्यापोहमात्र रूप में यह अलीक और बुद्धयात्मक है। यहाँ हमें विकल्पों के अर्थात् विकल्पीकरण के दो स्तर प्राप्त होते हैं। प्रथम, स्वलक्षण के सन्दर्भ में और दूसरा सामान्य लक्षण के सन्दर्भ में। जब स्वलक्षण नामजात्यादि प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्पों से अध्यवसित होकर सामान्यलक्षण बनता है तब अर्थात्मक अपोह होता है। दूसरे स्तर पर गो-व्यक्ति के रूप में सामान्यलक्षण के सन्दर्भ से समान-अतद्व्यावृत्तिपूर्वक 'गोत्व जाति' की संकल्पना बुद्धि में आकारित होती है। इसे बुद्धयात्मक अपोह के रूप में समझा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिङ्नाग-धर्मकीर्ति के प्रमेय द्वित्व और प्रमाण द्वित्व की वैचारिक योजना में अर्थक्रिया का क्षणमात्र स्वलक्षण ही परमार्थत: विधि है, जिसे बुद्धि अपनी विकल्पात्मक शक्ति से अध्यवसित कर आभोग्य बनाती है, लेकिन स्वलक्षण के उत्पत्यन्तर निरन्वय विनाशी होने के कारण बुद्धि को उसका विकल्पित रूप ही गृहीत होता है और विकल्पीकरण की प्रक्रिया में 'अपोह' आवश्यक रूप से अन्तर्विष्ट रहता है। यह किसी वस्तु के व्यष्टित्व के निर्धारण की पूर्वापेक्षा है और उसी व्यष्टि को व्यवहर्ता (पृथक्जन)

अनादि-वासना के प्रभाववश यथार्थ समझते हैं और उसी के सहारे पुरुषार्थी ऐसे क्षण संतान तक पहुँचता है जो अनभिष्ट नहीं होती। अतएव यदि सामान्य अनुभव की प्रामाणिकता वांछित वस्तु के प्रापण और अवांछित वस्तु के वर्जन पर निर्भर करती है तो सामान्य अनुभव की अपोहत्मकता उसकी पूर्वापेच्छा है। अपोहात्मक अनुभव के विषय (बाह्यार्थ) अपोहमात्र हैं, यह न्यायवादी बौद्धों की विशेष तत्त्वमीमांसीय चिन्ता है। ज्ञानश्री मित्र ने ठीक ही कहा है–"परमार्थ की अनभिलाप्यता में ही अपोह का अभिनिवेश है।"

V

अब अपोहपाद के उपर्युक्त प्रतिपादन के पश्चात् शब्दार्थ सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तों की समीक्षा आवश्यक प्रतीत होती है। भारतीय भाषा दर्शन के परिप्रेक्ष्य में शब्दार्थ की अपोहात्मकता अपने आप में एक ऐसे विलक्षण और विस्थापक पक्ष को उपस्थापित करता है कि बौद्ध और बौद्धेतर परम्परा के बीच इस बात को लेकर उत्तरोत्तर वाद-विवाद का एक लम्बा इतिहास देखने को मिलता है। पूर्व के प्रतिपादन में हमने नैयायिकों एवं मीमांसकों के द्वारा अपोहवाद के विरोध और बौद्ध नैयायिकों द्वारा अपने पक्ष की पुनः स्थापना को यत् किंचित् स्पष्ट करने का प्रयास किया है। परन्तु यहाँ हम विशेष रूप से उन सिद्धान्तों की समीक्षा करने का प्रयास करेंगे जिन्हें शान्तरक्षित ने पूर्वपक्ष के रूप में सद्यः भर्तृहरि के वाक्यपदीयम् से ग्रहण किया है। स्वयं भर्तृहरि ने अपोद्धार से प्राप्त पदार्थ के विषय में बारह प्रकार के मतों का उल्लेख किया है लेकिन इन सिद्धान्तों की ऐतिहासिकता, इनका तार्किक क्रम और यहाँ तक कि इनका परस्पर सम्बन्ध भी बहुत स्पष्ट नहीं है। इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली कारिकाओं की वृत्ति भी उपलब्ध नहीं होने के कारण समस्या और भी गम्भीर हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि भर्तृहरि ने जिन बारह मतों का उल्लेख किया है वे परस्पर असंकीर्ण न होकर एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न पक्ष हैं। शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में 'अस्त्यर्थादीनांशब्दार्थता' कहते हुए भर्तृहरि द्वारा सन्दर्भित बारह सिद्धान्तों में से छह सिद्धान्तों को और सातवें सिद्धान्त के रूप में भर्तृहरि के प्रतिभा-सिद्धान्त को पूर्वपक्ष बनाया है।

(१) अस्त्यर्थ सिद्धान्त – इस सिद्धान्त के अनुसार सभी शब्दों का सामान्य रूप से अस्ति-सत्ता ही शब्दार्थ होता है। उनमें कोई विशिष्ट रूप या संवेदी आकार सम्मिलित नहीं रहता है। उदाहरण के लिए अपूर्व, देवता और स्वर्ग जैसे शब्दों से हम कुछ अर्थ ग्रहण करते हैं लेकिन उस कुछ में कोई विशिष्ट रूप या आकार सम्मिलित नहीं रहता है। अवधेय है कि इन शब्दों के अर्थों में

विशिष्ट रूप अथवा आकार का सम्मिलित नहीं होना इनकी अर्थवत्ता को प्रभावित नहीं करता है। यदि कोई कहे कि भाषा में प्रयुक्त गाय, अश्व आदि शब्दों से जिस अर्थ का प्रत्यायन होता है उसमें उन-उन वस्तुओं के विशिष्ट रूप सम्मिलित होते हैं तो यह एक संयोग मात्र है कि ये शब्द जिस वस्तु का अर्थ बोध कराते हैं उसका एक विशिष्ट रूप भी है जिसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है। तात्पर्य यह है कि वस्तुओं का विशिष्ट रूप या आकार अर्थ प्रत्यायन की परिधि में नहीं आता क्योंकि इन्द्रिय ग्राह्य विशिष्ट रूप या संवेदी बिम्ब के बिना भी शब्द अर्थवान् होते ही हैं। अतः शब्दों का वही अर्थ लेना अधिक लाघव परक है जो सभी उदाहरणों में अपरिवर्तनीय रूप से विद्यमान रहता है। ऐसा अपरिवर्तनीय अर्थ अस्त्यर्थ ही हो सकता है।

शान्तरक्षित ने सामान्य रूप से इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहा है कि अस्ति से जो अभिव्यक्त होता है उसके रूप विशेष के स्वरूप का निर्धारण न होने के कारण भिन्न-भिन्न शब्दों का – गौ, गवय, गज आदि में – भेदपूर्वक व्यवहार नहीं हो सकेगा और इस तरह उन शब्दों से उन-उन पशुओं का अभिधान भी नहीं हो पायेगा।[३४] पुनः इस सिद्धान्त का विशेष रूप से खण्डन करते हुए शान्तरक्षित यह प्रश्न उठते हैं कि अस्ति से जो अभिव्यक्त होता है वही शब्दार्थ है तो यह वस्तुओं का स्वलक्षण है अथवा जाति है अथवा सम्बन्ध है अथवा कुछ अन्य है जो बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है।[३५] इसमें स्वलक्षण के अर्थ में अस्त्यर्थ शब्द वाच्य नहीं हो सकता क्योंकि संकेत और व्यवहार काल के साथ स्वलक्षण का सम्बन्ध नहीं हो सकता (संकेतव्यवहाराप्त कालव्याप्तिवियोगतः)। पुनः अस्त्यर्थ को सामान्यवाचक रूप में भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि एक ओर जाति की सत्ता ही विचारासह्य है तो दूसरी ओर वह अनन्त व्यक्तियों का वाचक नहीं हो सकता (न जातिशब्दो भेदानां वाचकः आनन्त्यात्')। यदि अस्त्यर्थ से 'योग' अर्थात् जाति विशिष्ट व्यक्ति की शब्दार्थता मानी जाय तो वह भी विचारासह्य है क्योंकि जाति-व्यक्ति सम्बन्ध को लेकर आचार्य दिङ्नाग द्वारा उपस्थापित 'व्यसनसन्तति' सर्वविदित है। अन्ततः यदि बुद्धि में प्रतिबिम्बित बुद्ध्याकार को ही अस्त्यर्थ माना जाय तो बुद्धयाकार भी बुद्धि में ही स्थिति है, पृथक् नहीं और इसी प्रकार बुद्धि के समान ही वह न तो ज्ञात अर्थ का अनुगमन करता है न ही अन्य बुद्धि का, क्योंकि संकेत-व्यवहार काल में यह उपस्थित नहीं रहता। इसलिए स्वलक्षण की तरह उसका संकेत सम्भव नहीं।[३६]

(२) समुदाय सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द से वस्तुओं के समुदाय का बोध होता है।[३७] किन्तु उस समुदाय की वस्तुओं के व्यष्टिरूप या

समष्टि रूप से कुछ भी बोध नहीं होता। उदाहरण के लिए जब ब्राह्मण शब्द का उच्चारण किया जाता है तो उससे न तो तप अथवा जाति अथवा शास्त्रज्ञान की विकल्पत्वेन् स्पष्ट प्रतीति होती है और न ही तप, जाति और शास्त्रज्ञान की समुच्चय रूप से, अपितु तप इत्यादि की एक समष्टि के रूप में अन्य सभी अवधारणाओं से व्यवच्छिन्न होकर प्रतीति होती है। यहाँ विकल्प का अर्थ किसी समूह के बहुत से व्यक्तियों में से किसी एक व्यक्ति का स्पष्ट ज्ञान और समुच्चय का अर्थ है ऐसे निश्चित संख्या के व्यक्तियों की स्पष्ट संकल्पना जो आपस में एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। शब्दों के माध्यम से जो बोध उत्पन्न होता है वह विकल्प और समुच्चय दोनों से स्वतंत्र होता है। शान्तरक्षित ने इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए केवल इतना ही कहा है कि समुदाय सिद्धान्त जाति सिद्धान्त का ही एक पर्याय है, क्योंकि समुदाय को शब्दार्थ मानने पर उसमें सामान्य और विशेषों का स्पष्ट समावेश दिखाई पड़ता है। अतः समुदाय सिद्धान्त को भी उन सभी दोषों से ग्रस्त कहा जा सकता है जो जाति सिद्धान्त में पाये जाते हैं।[३८]

३. असत्य संसर्ग और असत्योपाधि सत्य सम्बन्ध सिद्धान्त– शान्तरक्षित के इन दोनों सिद्धान्तों का पूर्वपक्ष के रूप में अनुवाद अलग-अलग किया है लेकिन उनका खण्डन एक ही साथ किया है। **असत्यसंसर्ग सिद्धान्त** के अनुसार शब्द से किसी अपरिभाषित सामान्य वस्तु और विशेष वस्तु के पारस्परिक संबंध का बोध होता है। इस संबंध को असत्य माना जाता है क्योंकि शब्द से उन संबंधित वस्तुओं का बोध नहीं होता और न उनका उनके व्यष्टि रूप में ही बोध होता है। उदाहरण के लिए जब हम अलातचक्र का प्रत्यक्षीकरण करते हैं तो उस समय उसके प्रत्येक व्यष्टियों का दर्शन न कर समुदाय रूप से समग्र अलातचक्र का ही दर्शन करते हैं।[३९]

पुनः असत्योपाधि सत्य संबंध सिद्धान्त के अनुसार शब्द से किसी वास्तविक वस्तु और उसके अवास्तविक गुणों के पारस्परिक संबंध का बोध होता है।[४०] उदाहरण के लिए सोना ही हार, कंगन इत्यादि विभिन्न आभूषणों का रूप धारण करता है किन्तु इन आभूषणों का वास्तविक अस्तित्व नहीं है। वास्तविक अस्तित्व तो केवल सोने का है जो इस सबमें व्याप्त रहता है। आभूषणों के विगलित हो जाने पर शेष केवल सोना ही बचता है। अतः शब्द से अवास्तविक विशेषणों से युक्त इसी वास्तविक सत्ता का बोध होता है। भर्तृहरि ने शब्दार्थता संबंधी इस सिद्धान्त को बहुत महत्त्व दिया है और अपने वाक्यपदीय के तृतीय कांड में इस पर एक पूरा परिच्छेद ही लिखा है।

शान्तरक्षित ने उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों की आलोचना करते हुए कहा है कि संबंध और सामान्य दोनों ही मानसिक रचनायें हैं और स्वलक्षणों को उनसे संबंधित नहीं किया जा सकता। अत: शब्दों से सामान्य और विशेष के संबंध का बोध नहीं हो सकता। पुन: सल और असल विशेषणों का सम्बन्ध व्याघातपूर्ण होता है क्योंकि सत्य और असत्य का अस्तित्व एक साथ नहीं। ऐसे ही द्रव्य नाम की कोई वस्तु नहीं जो अपने गुणों में व्याप्त हो। वस्तुत: गुणों का ही अस्तित्व है, गुणातिरिक्त और गुणाश्रय नामक द्रव्य जैसा कोई तत्त्व ही नहीं। यह विचार कि द्रव्य अपने गुणों में व्याप्त रहने वाला तत्त्व है, हमारे मन की कल्पना मात्र है। अत: उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[४१]

(४) अभिजल्प सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार किसी शब्द से उस शब्द का ही बोध होता है, किन्तु मात्र उस शब्द के रूप में नहीं बल्कि, बाह्य वस्तु से संलयित रूप में शाब्दबोध होता है। सतत् अभ्यास के कारण हमारी यह धारणा बन जाती है कि जगत् की वस्तुएँ वास्तविक हैं। अत: हम शब्दों में वस्तु के आकार का समारोपण कर देते हैं। इस समारोपण के कारण ही ऐसी मिथ्या धारणा पनप जाती है कि शब्द और वस्तुएँ एकरूप हैं।[४२] जब शब्द वस्तु से संलिष्ट अवस्था में होते हैं तो उन्हें अभिजल्प की अवस्था में कहा जाता है। उदाहरण के लिए 'यह गाय है' इस वाक्य में हम गाय शब्द को वास्तविक गाय से अभिन्न मान लेते हैं और यह धारणा बना लेते हैं कि इससे स्वलक्षण रूप वास्तविक गाय का बोध होता है।

शांतरक्षित इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए तीन विकल्पों को उपस्थित किया है। प्रथमत: यह कि संलयन या तो शब्द और वस्तु के बीच हो सकता है। द्वितीयत: यह कि संलयन शब्द और सामान्य के बीच हो सकता है। तृतीयत: यह कि संलयन शब्दों और वस्तुओं के बीच केवल संज्ञान में हो सकता है। उपर्युक्त विकल्पों में प्रथम विकल्प सम्भव नहीं क्योंकि शब्द और वस्तु एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न है। उनका साक्षात्कार भी भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के द्वारा होता है। अत: उनके बीच संलयन का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार द्वितीय विकल्प भी अमान्य है क्योंकि सामान्य काल्पनिक और अवास्तविक है। अत: सामान्य और शब्दों के बीच भी संलयन का प्रश्न नहीं उठता। यदि तृतीय विकल्प को स्वीकार किया जाय तो संलयन सिद्धान्त और प्रत्यय सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं रह जाता। परिणामत: शब्द का अर्थ आत्मनिष्ठ हो जाएगा और उससे किसी वस्तुनिष्ठ सत्ता का बोध नहीं होगा।[४३]

५. आरोपण सिद्धान्तः – इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तु और प्रत्यय नाम की दो प्रकार की सत्ताएँ हैं। वस्तुएँ प्रत्ययों के तत्त्व हैं। इन वस्तुओं के आकारों की अभिव्यक्ति प्रत्ययों द्वारा होती है। प्रत्ययों द्वारा वस्तुओं की इस अभिव्यक्ति को हम वस्तु समझ बैठते हैं। अतः प्रत्यय अर्थात् बुद्ध्यारुढ आकार ही शब्दार्थ है।[४४] इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यय ही वास्तविक है क्योंकि ये ही हमारी क्रियाओं के आधार हैं। यह मात्र हमारी कल्पना की सृष्टि नहीं है क्योंकि काल्पनिक वस्तु का क्रिया से सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु शब्द से मात्र प्रत्यय का बोध नहीं होता। जब प्रत्यय का आकार द्रव्यादि बाह्य वस्तुओं पर अंकित होता है तब द्रष्टा को यह बाह्य वस्तु के रूप में प्रतीत होता है और दृष्टा उसे अर्थक्रियाकारित्व से युक्त समझता है। अतः शब्दों से उस प्रत्यय का बोध होता है जो बाह्य वस्तु पर आरोपित होती है।

शान्तरक्षित इस सिद्धांत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि उपर से देखने पर आरोपण सिद्धान्त अपोहवाद की तरह ही प्रतीत होता है लेकिन वास्तव में इन दोनों सिद्धांतों में बहुत बड़ा अन्तर है। आरोपण सिद्धान्त के अनुसार शाब्द प्रत्यय के द्वारा जो जाना जाता है वह बुद्धयाकार नहीं होता बल्कि यह बाह्यार्थ वस्तु होती है जो अर्थक्रियाकारी होती है लेकिन तब भी उस बाह्यवस्तु के पारमार्थिक स्वरूप का इसके द्वारा ज्ञान नहीं होता। इसका कारण यह है कि आरोपण के अनुसार बाह्यार्थ का अध्यवसाय बाह्यार्थों के पारमार्थिक स्वरूप के अनुसार नहीं होता बल्कि अध्यवसाय के अनुरूप ही वस्तु को स्वीकार कर लिया जाता है। इसलिए शब्दार्थ वह है जो समारोपित होता है और जो समारोपित है वह कुछ भी नहीं, अतएव शब्दों के द्वारा वास्तव में कुछ भी अभिहित नहीं होता। इसके विपरीत अपोहवादी मान्यता के अनुसार शब्दों के द्वारा वाच्य किसी भी वस्तु को अथवा बुद्ध्याकार को वास्तविक नहीं माना जाता। यह धारणा कि वस्तुओं का बाह्य रूप में अस्तित्व है, एक मिथ्या धारणा है जिसका बीज इतरेतर व्यावृत्ति में निहित है। शब्द के द्वारा इसी व्यावृत्ति का बोध होता है।[४६]

(६) प्रतिभा सिद्धान्त– इस सिद्धांत के अनुसार शब्द के द्वारा किसी वस्तु का सद्यः बोध नहीं होता है (शब्दो न तु बाह्यार्थ प्रत्यायक इति)। समस्त शब्द अभ्यास से प्रतिभा (अन्तर्दृष्टि) के जनक होते हैं।[४७] किसी वस्तु के लिए एक ही शब्द की पुनः पुनः प्रवृत्ति को अभ्यास कहते हैं। प्रतिभा वह मानसिक शक्ति (बुद्धि) है जो किसी निश्चित कारण से उत्पन्न हुई क्रिया का ज्ञान करा देती है (नियत साधनावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्त्यनुकूला प्रज्ञा प्रतिभा)। यह मानसिक क्षमता या प्रतिभा की उत्पत्ति तभी होती है जब शब्द किसी निश्चित प्रचलन के

संसर्ग में आता है। शब्दों के प्रचलन विविध हैं। अतः प्रतिभा भी विविध है और यहाँ तक कि प्रति व्यक्ति भिन्न भी है। भर्तृहरि ने स्वभाव, चरण, भोगनिमित्त, अदृष्ट, अभ्यासनिमित्त और विशिष्टोपहित आदि इसके षडविध भेदों का प्रतिपादन किया है। चूँकि शब्दों का व्यवहार अनन्त होता है, इसीलिए इसके अपरिमित भेद हो सकते हैं। जिस प्रकार महावत के अंकुश का प्रहार हाथी में विभिन्न वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए एक मानसिक क्षमता उत्पन्न करता है, उसी प्रकार वृक्ष, गाय, अश्व आदि विविध शब्द सतत् अभ्यास द्वारा व्यक्तियों के मन में क्षमता उत्पन्न करते हैं। भर्तृहरि का कथन है कि बड़े से लेकर छोटे तक एवं पशु-पक्षी भी इस क्षमता से सम्पन्न होते हैं और परिस्थिति को भांप कर अपना-अपना कार्य करते हैं। यदि इस सिद्धान्त को नहीं स्वीकार किया जाय तो कथा इत्यादि की इतनी परस्पर विरोधी और बहुविध व्याख्यायें कैसे सम्भव हो सकती हैं।

शान्तरक्षित[४८] इस सिद्धांत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रतिभा को यदि बाह्यार्थ विषयक माना जाय तो बाह्य विषय के एकात्म और नियत स्वभाव होने के कारण तद्विषयक अनेक प्रतिभा कैसे हो सकती है? पुनः प्रतिभाओं को निर्विषय माना जाय अर्थात् केवल वासना मात्र वाला माना जाय तो उससे बाह्य अर्थों में प्रवृत्ति और प्रतिपत्ति कैसे संभव होगी? यदि यह माना जाय कि अपने ही स्वरूप द्वारा प्रतिभासित अनर्थ में अर्थ के निश्चय द्वारा भ्रान्ति से प्रतिपत्ति एवं प्रवृत्ति होती है तो शब्दार्थ को भी भ्रान्त ही मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में इस भ्रान्ति का कुछ कारण भी होना चाहिये। यदि भ्रान्ति कारण रहित है तो यह सदा और सर्वत्र होगी। यदि भ्रान्ति का कारण पदार्थों का परस्पर भेद माना जाय तो इससे अपोहवाद का ही समर्थन होगा।

यहाँ अवधेय है कि शान्तरक्षित ने प्रतिभा सिद्धांत की आलोचना शब्दार्थ सिद्धांत के रूप में की है लेकिन भर्तृहरि ने प्रतिभा को वाक्यार्थ सिद्धांत के संदर्भ में स्वीकार किया है। भर्तृहरि के लिए भाषा की मूल इकाई एकीकृत रूप में वाक्य ही है और एकीकृत वाक्य का वाक्यार्थबोध प्रतिभा है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि दिङ्नाग ने भी वाक्यार्थ बोध के सन्दर्भ में प्रतिभा-सिद्धान्त को ही स्वीकार किया है।

अपोद्धारे पदस्थायं वाक्याद् अर्थो विवेचितः।
वाक्यार्थः प्रतिभाख्योयम् तेनादावुपजापते॥

अब प्रमाण समुच्चय में प्राप्ति दिङ्नाग की यह कारिका एक बहुत बड़ी समस्या को उत्पन्न करता है कि एक ओर शान्तरक्षित अपोहवाद के संदर्भ में प्रतिभा सिद्धांत का खण्डन करते हैं तो दूसरी ओर अपोहवाद के जनक दिङ्नाग अपोद्धार और प्रतिभा-सिद्धांत को उसी रूप में स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं जैसे कि भर्तृहरि ने स्वीकार किया है। अतः स्फोटवादी भर्तृहरि का प्रतिभा सिद्धांत और अपोहवादी दिङ्नाग का प्रतिभा सिद्धांत एक ही है या दोनों में सूक्ष्म अवधारणात्मक भेद है, यह विचारणीय हो जाता है। दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय सम्पूर्णतः उपलब्ध नहीं होने के कारण और परवर्ती बौद्ध नैयायिकों द्वारा वाक्यार्थ बोध पर स्पष्ट विचार नहीं किये जाने के कारण सम्प्रति इस समस्या पर अन्तिम रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं।

---

१. पतंजलि, महाभाष्य १.१ - सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे।

२. इतिविषयक बौद्धेतर दार्शनिकों के दो सम्प्रदाय हैं। प्रथम शक्तिग्रह को 'ईश्वरेच्छा' स्वीकार करता है और दूसरा व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तादि अष्टविध हेतुपूर्वक शक्तिग्रह स्वीकार करता है।

३. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक-प्रमाणसिद्धि परि. ४, वक्तृव्यापार विषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते। प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नाथक्त्व निबन्धनम्।।

४. वही, ३-शाब्देऽप्य अभिप्राय निवेदनात्।

५. दिङ्नाग-अन्यशब्दार्थापोह स्वार्थकुर्वति श्रुतिर्भिद्यत्ते। और धर्मकीर्ति-प्रमाणवार्त्तिक (मनो.) स्वार्थानु, परि. ९८-तदन्य परिहारेण प्रवर्तेति च ध्वनिः।

६. वाक्यपदीय-न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासते।।

७. रत्नकीर्ति, अपोहसिद्धि (सिक्स बुद्धि न्या. ट्रेक्ट्स) एशिया सो., १९८९ पृ. ३.

८. वही, पृ. ४-यदि शब्दार्थ प्रतिपत्ति काले कालितो न परापोहः, कथं अन्यपरिहारेण प्रवृत्तिः।

९. श्चेरबात्सकी – बुद्धि. लॉजिक, भाग २, डोवर प्रकाशन, १९६२, पृ. ४५७. श्चेरवात्सकी महोदय ने काण्टीयन प्रभाव में अपोह को "ट्रान्शेण्डेन्टल डायलेक्टिक" कहा है। अपोह ऐसा अर्थ स्वीकार करने से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा परमार्थ सत् स्वलक्षण का अग्रहण स्वीकार करना होगा। इसे स्वयं श्चेरवात्सकी महोदय भी स्वीकार नहीं करते। यदि "ट्रान्शेण्डेन्टल डायलेक्टिक" से उनका आशय प्राग् बौद्धिक है तो हमें कोई आपत्ति नहीं, लेकिन बाद के पृष्ठों में "ट्रान्शेण्डेन्टल डायलेक्टिक" पद को काण्ट के प्रागनुभाविक अर्थ में ही उन्होंने स्पष्ट किया है।

१०. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक (स्ववृत्ति) कर्णगोमिटीका सहित, किताब महल, प्रयाग, पृ. १७०-व्याख्यातार एवं विवेचयन्ति न तु व्यवहर्तारः .... तदभिप्रायवशादेवमुच्चते।

११. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक (मनो.) प्रत्यक्ष परि. १.२ - सर्वत्र द्वैविध्य संग्रहात्।

१२. वही - मानं द्विविधं विषय द्वैविध्यात्।

१३. धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु १२, १४ -तस्य विषयः स्वलक्षणम्। तदेव परमार्थसत्।

१४. वही, १६, १७-अन्यत् सामान्यलक्षणम्। सोऽनुमानस्य विषयः।

१५. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, प्रत्यक्षपरि ५३-५४ मेयं त्वेकं स्वलक्षणम्....स्वपर रूपाभ्यां गतेर्मेयद्वयं मतम्।

१६. मोक्षकार गुप्त, बौद्धतर्कभाषा, प्रो. बी.एन. सिंह (अंग्रेजी अनुवाद), पृ. ८८, आशा प्रकाशन, वाराणसी–यथा ध्यवसायं बाह्य एवं घटादिरर्थः अपोह इत्यभिधीयते।

१७. धर्मोत्तर, न्याय बिन्दु टीका, प्रत्यक्ष परि. २१ उत्प्रेक्षणं तु विकल्प व्यापारः....अनुभवाद अध्यवस्यन्ति।

१८. वही, २१- तस्माद असारूप्य व्यावृत्या सारूप्यं ज्ञानस्य व्यवस्थापन हेतुः।

१९. श्चेरवात्सकी, बुद्धि. लॉजिक, भाग २, वही पृ. २०७

२०. वही, पृ. २०६, वस्तुतः दिङ्नाग-धर्मकीर्ति की ज्ञानमीमांसा में यह स्थल टीकाकारों (यथा–धर्मोत्तर, दुर्वेकमिश्र) के लिए विवादास्पद रहा है। विकल्पात्मक अध्यवसाय के मध्य सविकल्प गर्भित निर्विकल्पक बौद्धिक प्रज्ञा की स्थिति दिङ्नाग-धर्मकीर्ति की प्रमाणमीमांसा के लिए शास्त्रीय आवश्यकता है। यदि इसे स्वीकार न किया जाय तो धर्मकीर्ति का यह कथन कि "यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभास भेदस्तत् स्वलक्षणम्" किस प्रकार प्रासंगिक होगा (लेखक की टिप्पणी)।

२१. धर्मोत्तर, न्याय बिन्दु टीका, २.२८–यथा चैकज्ञान संसर्गिणि प्रत्यक्षं घटस्य प्रत्यक्षत्वम्।

२२. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, प्रत्यक्ष परि. १०,-सर्वत्र समरूपत्वात् तद् व्यावृत्ति समाश्रयात्।

२३. धर्मकीर्ति, स्वार्थानु. परि. (स्ववृत्ति) १०९- एककार्यता सादृश्यम्। और प्रमाणवार्त्तिक (मनो.) टीका में मनोरथनन्दी ने समानता के प्रत्यय को हेतुपूर्वक बताय है– "आश्रयालम्बनाकारकाद्रव्यसमतादिभिः समं प्रयुक्ता सम्प्रयुक्ताः", प्रमाणसिद्धि परि. २१६.

२४. वही, १११- एकप्रत्ययवमर्शस्य .... व्यक्तिनामप्यभिन्नता।

२५. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, स्वार्थनुमान परि. १५२-५३ - अनन्यत्वेऽन्वयाभावादन्यत्वेऽप्य नपाश्रयात्। न याति न च तत्रसीदस्ति पश्चान्न चांशवत्। जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसन सन्ततिः। अन्यत्र वर्त्तमानस्य ततोऽन्यस्थानजन्मनि।।

२६. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, शब्दार्थपरीक्षा, ३१५,

२७. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्त्तिक, स्वार्थानुमान परि. १३४-तैनान्यापोह विषयाः प्रोक्ताः सामान्य गोचराः।

२८. बुद्धि के बहुआयामिक व्यावर्त्तन व्यापार के लिए श्री यशदेप शल्य की पुस्तक 'चिद्विमर्श' का 'आत्म और अनात्म' अध्याय विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

२९. धर्मकीर्ति, प्रामणवार्त्तिक, स्वार्था. परि. ७७-७८. तस्यां यद्रुपमाभाति बाह्यमेक मिवान्यतः। व्यावृत्तमिव निस्तत्त्वं परीक्षानङ्गभावतः।। अर्थाज्ञानिविष्टास्त एवं व्यावृत्तरूपकाः। अभिन्ना इव चाभान्ति व्यावृत्ताः पुनरन्यतः।।

३०. वाचस्पति मिश्र, न्यायकणिका, पृ. १८६-व्यावृत्तमिवनिस्तत्वं परीक्षा भगं भावतः।

३१. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, क्रिटिक ऑफ इण्डियन रियलिज़्म, पृ. ३०९, आगरा विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९६४.

३२. रत्नकीर्ति, अपोहसिद्धि (सिक्स न्याय बुद्धि. ट्रेक्ट्स) एशियाटि. सोसायटी १९८९, पृ. ६- अपोह शब्देनान्यायपोह विशिष्टो विधि रुच्यते। .... विधि शब्देन च यथाध्यवसाय मतदुपपरावृत्तो।

३३. तत्त्व संग्रह - ८८६ - अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्। अपूर्व देवतास्वर्गेः सममाहुर्गवादिषु।। (वाक्यपदीय -२-११९)

३४. तत्त्वसंग्रह – ८९३ – प्रतिपाद्ये न भेदेन व्यवहारोऽवकल्प्यते।
३५. वही – ८९२ – तत्रास्त्यर्थोऽभिधेयोऽयं किं स्वलक्षणमिष्यते।।
जातिर्योगोऽथ तद्वाऽन्यबुद्धेर्वाप्रतिबिम्बकम्।।
३६. वही – ८८४ – बुद्धयाकारश्च बुद्धिस्थो नार्थ बुद्ध्यन्तरानुगः।
नाभिप्रेतार्थकारी च सोऽपि वाच्यो न तत्त्वतः।।
३७. वही – ८८७ – समुदायोऽभिधेयोवाऽप्यविकल्पसमुच्चयः। (वाक्यपदीय २–१२६)
३८. वही – ८९६ समुदायाभिधानेऽपि जातिभेदाभिधा स्फुटा।
तपोजातिक्रियादीनां सामत्येनाभिधानतः।।
३९. वही – ८८७ – असत्यो वाऽपि संसर्गः शब्दार्थः कैश्चिदुच्यते। (वाक्यपदीय २–१२६)
४०. वही – ८८८ – असत्योपाधि यत् सत्यं तद्वा शब्दनिबन्धम्। (वाक्यपदीय २–१२७)
४१. द्रष्टव्य – तत्त्वसंग्रह और पंजिका – ८९७
४२. तत्त्वसंग्रह – ८८८ – शब्दोवाऽप्यभिजल्पत्वमागतो याति वाच्यताम्। (वाक्यपदीय – २–१२७)
४३. वही – ८९ – जल्पो बुद्धिस्थ एवायं बाह्ययोग विभेदतः।
ततः को भेद एतस्य बुद्धिपक्षादनन्तरात्।।
४४. वही – ८९० – यो वाऽर्थो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तु निबन्धनः।
स बाह्यं वस्त्विवज्ञातः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते।। (वाक्यपदीय – २–१३२)
४५. तत्त्व संग्रह पंजिका – पृ. २८५ – बुद्धिरूपतया गृहीतोऽसौ न शब्दार्थः।
४६. प्रमाणवार्त्तिक – ३/७१ – सर्वे मिथ्यावभासोऽयमर्थेष्वेसात्मनाग्रहः।
इतरेतर भेदोस्य बीजं संज्ञा यदर्थिका।।
४७. तत्त्व संग्रह –८९१– अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः सर्वः शब्दः समासतः।
बालानां च तिरश्चां च यथार्थप्रतिपादने।।
४८. वही – ९०१ – ९०४ –
प्रतिभा च शब्दार्थो बाह्यार्थविषया यदि।
एकात्मनियते बाह्ये विचित्राः प्रतिभाः कथम्।।
अथ निर्विषया एता वासनामात्र मावतः।
प्रतिपत्तिः प्रवृत्तिर्वा बाह्यार्थेषु कथं भवेत्।।
बाह्य रूपाधिमोक्षेण स्वाकारे यदि ते मते।
शब्दर्थोऽतात्त्विकः प्राप्तस्तथा भ्रान्त्या प्रवर्त्तनात्।।
निर्बिजा न च सा युक्ता सर्वत्रैव प्रसंगतः।
इतरेतरभेदोऽस्य बीजं चेत् पक्ष एष नः।।